क्या स्याद्वाद अनिश्चयवाद है ?

[महापंडित राहुल सांकृत्यायन लिखित 'दर्शन-दिग्दर्शन' की एक समीक्षा]

जैनदर्शनने सामान्यरूपसे यावत् सत्को परिणामीनित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है। अनेकान्तात्मक अर्थका निर्दोष रूपसे कथन करनेवाली भाषा स्याद्वाद रूप होती है। उसमें जिस धर्मका निरूपण होता है उसके साथ 'स्यात्' शब्द इसलिए लगा दिया जाता है जिससे पूरी वस्तु धर्मरूप न समझ ली जाय। अविवक्षित शेष धर्मोंका अस्तित्व भी उसमें है यह प्रतिपादन 'स्यात्' शब्दसे होता है।

स्याद्वादका अर्थ है—स्यात्–अमुक निश्चित अपेक्षासे। अमुक निश्चित अपेक्षासे घट अस्ति ही है और अमुक निश्चित अपेक्षासे घट नास्ति ही है। स्यात्का अर्थ न शायद है, न सम्भवतः और न कदाचित् ही। 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोणका प्रतीक है। इस शब्दके अर्थको पुराने मतवादी दार्शनिकोंने ईमानदारीसे समझनेका प्रयास तो नहीं ही किया था, किन्तु आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकी दुहाई देनेवाले दर्शन-लेखक उसी भ्रान्त परम्पराका पोषण करते आते हैं।

स्याद्वाद—सुनयका निरूपण करनेवाली भाषापद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चितरूपसे बताता है कि वस्तु केवल धर्मवाली ही नहीं है उसमें इसके अतिरिक्त भी धर्म विद्यमान हैं। तात्पर्य यह कि—अविविक्षित शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व 'स्यात्' शब्द करता है। 'रूपवान् घटः' यह वाक्य भी अपने भीतर 'स्यात्' शब्दको छिपाए हुए है। इसका अर्थ है कि 'स्यात् रूपवान् घटः' अर्थात् चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होनेसे या रूप गुणकी सत्ता होनेसे घड़ा रूपवान् है, पर रूपवान् ही नहीं है उसमें रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक गुण, छोटा, बड़ा आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं। इन अविवक्षित गुणधर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा करनेवाला 'स्यात्' शब्द है। 'स्यात्' का अर्थ शायद या सम्भावना नहीं है किन्तु निश्चय है। अर्थात् घड़ेमें रूपके अस्तित्वकी सूचना तो रूपवान् शब्द दे ही रहा है। पर उन उपेक्षित शेष धर्मोंके अस्तित्वकी सूचना 'स्यात्' शब्दसे होती है। सारांश यह कि 'स्यात्' शब्द 'रूपवान् के साथ नहीं जुटता है, किन्तु अविवक्षित धर्मोंके साथ। वह 'रूपवान्' को पूरी वस्तु पर अधिकार जमानेसे रोकता है और कह देता है कि वस्तु बहुत बड़ी है उसमें रूप भी एक है। ऐसे अनन्त गुणधर्म वस्तुमें लहरा रहे हैं। अभी रूपकी विवक्षा या उसपर दृष्टि होनेसे वह सामने है या शब्दसे उच्चरित हो रहा है सो वह मुख्य हो सकता है पर वही सबकुछ नहीं है। दूसरे क्षणमें रसकी मुख्यता होनेपर रूप गौण हो जायगा और वह अविवक्षित शेष धर्मोंकी राशिमें शामिल हो जायगा।

'स्यात्' शब्द एक प्रहरी है, जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता। वह उन अविवक्षित धर्मोंका संरक्षक है। इसलिए 'रूपवान्' के साथ 'स्यात्' शब्दका अन्वय करके जो लोग घड़ेमें रूपकी भी स्थितिको स्यात्का शायद या सम्भावना अर्थ करके सन्दिग्ध बनाना चाहते हैं वे भ्रममें हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्यमें 'घटः अस्ति' यह अस्तित्व अंश घटमें सुनिश्चितरूपसे विद्यमान है। स्यात् शब्द उस अस्तित्वकी स्थिति कमजोर नहीं बनाता किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोंके सद्भावको सूचित करता है। सारांश यह कि 'स्यात्' पद एक स्वतन्त्र पद है जो वस्तुके शेषांश-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नामका धर्म, जिसे शब्दसे उच्चारित होनेके कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तुको न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियोंके स्थानको समाप्त न कर दे। इसलिए वह प्रतिवाक्यमें चेतावनी देता रहता है कि—हे भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोंके हकको हड़पनेकी चेष्टा नहीं करना। इस भयका कारण है—'नित्य ही है, अनित्य ही है' आदि अंशवाक्योंने अपना पूर्ण अधिकार वस्तुपर जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत्में अनेक तरहसे वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इनके फलस्वरूप पदार्थके साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक मतवादोंकी सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, परमतासहिष्णुता आदिसे विश्वको अशान्त और आकुलतामय बना दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्यके उस जहरको निकाल देता है जिससे अहंकारका सर्जन होता है और वस्तुके अन्य धर्मोंके सद्भावसे इनकार करके पदार्थके साथ अन्याय होता है।

'स्यात्' शब्द एक निश्चित अपेक्षाको द्योतन करके जहाँ 'अस्तित्व' धर्मकी स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता है वहाँ उसकी उस सर्वहारा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि—हे अस्ति, तुम अपने अधिकारकी सीमाको समझो। स्वद्रव्य-क्षेत्रकाल-भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम घटमें रहते हो उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा 'नास्ति' नामका तुम्हारा भाई भी उसी घटमें है। इसी प्रकार घटका परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है, इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी विवक्षा है। अतः इस समय तुम मुख्य हो। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि—तुम अपने समानाधिकारी भाइयोंके सद्भावको भी नष्ट करनेका दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है कि यदि 'पर' की अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो तो जिस घड़ेमें तुम रहते हो वह घड़ा घड़ा ही न रहेगा, कपड़ा आदि पररूप हो जायगा। अतः जैसी तुम्हारी स्थिति है वैसी ही पररूपकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्मकी भी स्थिति है। तुम उनको हिंसा न कर सको इसके लिए अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहिले ही वाक्यमें लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि अनन्त भाइयोंको वस्तुमें रहने देते हो और बड़े प्रेमसे सबके सब अनन्त धर्मभाई हिलमिलकर रहते हो पर इन वस्तुदर्शियोंकी दृष्टिको क्या कहा जाय! इनकी दृष्टि ही एकांगी है। ये शब्दके द्वारा तुममेंसे किसी एक 'अस्ति' आदिको मुख्य करके उसकी स्थिति इतनी अहंकारपूर्ण कर देना चाहते हैं जिससे वह 'नास्ति' अन्यका निराकरण करने लग जाता है। बस, 'स्यात्' शब्द एक अञ्जन है जो उनकी दृष्टिको विकृत नहीं होने देता और उसे निर्मल तथा पूर्णदर्शी बनाता है। इस अविवक्षित-संरक्षक, दृष्टिविषहारी, शब्दको सुधारूप बनानेवाले, सचेतक प्रहरी, अहिंसक भावनाके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, सुनिश्चित अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्दके स्वरूपके साथ हमारे दार्शनिकोंने न्याय तो किया ही नहीं किन्तु उसके स्वरूपका 'शायद, संभव है, कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका दुष्ट प्रयत्न अवश्य किया है तथा अभी भी किया जा रहा है।

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि—'घड़ा जब अस्ति है तो नास्ति कैसे हो सकता है, घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है, यह तो प्रत्यक्ष विरोध है' पर विचार तो करो घड़ाघड़ा ही है, कपड़ा नहीं, कुरसी नहीं, टेबिल नहीं, गाय नहीं, घोड़ा नहीं, तात्पर्य यह है कि वह घटभिन्न अनन्त पदार्थरूप नहीं है। तो यह कहनेमें आपको क्यों संकोच होता है कि 'घड़ा अपने स्वरूपसे अस्ति है, घटभिन्न पररूपोंसे नास्ति है'। इस घड़ेमें अनन्त पररूपोंकी अपेक्षा 'नास्तित्व' धर्म है। नहीं तो दुनिया में कोई शक्ति घड़ेको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कपड़ा आदि बननेसे रोक नहीं सकती थी। यह 'नास्ति' धर्म ही घड़ेको घड़े रूपमें कायम रखनेका हेतु है। इसी नास्ति धर्मकी सूचना 'अस्ति' के प्रयोगके समय 'स्यात्' शब्द दे देता है। इसी तरह घड़ा एक है। पर वही घड़ा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, छोटा-बड़ा हलका-भारी आदि अनन्त शक्तियोंकी दृष्टिसे अनेक रूपमें दिखाई देता है या नहीं ? यह आप स्वयं बतावें। यह अनेक रूपमें दिखाई देता है तो आपको यह कहनेमें क्यों कष्ट होता है कि—'घड़ा द्रव्यरूपसे एक है, पर अपने गुण, धर्म और शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है।' कृपाकर सोचिए कि वस्तुमें जब अनेक विरोधी धर्मोंका प्रत्यक्ष हो ही रहा है और स्वयं वस्तु अनन्त विरोधी धर्मोंका अविरोधी क्रीड़ास्थल है तब हमें उसके स्वरूपको विकृत रूपमें देखनेकी दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिए। जो 'स्यात्' शब्द वस्तुके इस पूर्णरूप दर्शनकी याद दिलाता है उसे ही हम 'विरोध संशय' जैसी गालियोंसे दुरदुराते हैं। किमाश्चर्यमतः परम्। यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकांश ध्यानमें आ जाता है कि—

"यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।"

अर्थात्—यदि यह अनेकधर्मरूपता वस्तुको स्वयं पसन्द है, उसमें है, वस्तु स्वयं राजी है तो हम बीचमें काजी बननेवाले कौन ? जगत्का एक-एक कण इस अनन्तधर्मताका आकर है। हमें अपनी दृष्टि निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमें कोई विरोध नहीं है। विरोध हमारी दृष्टिमें है। और इस दृष्टिविरोधकी अमृता (गुरबेल) 'स्यात्' शब्द है, जो रोगीको कटु तो जरूर मालूम होती है पर इसके बिना यह दृष्टिविषम ज्वर उतर भी नहीं सकता।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने तथा इतः पूर्व प्रो० जैकोबी आदिने स्याद्वादकी उत्पत्तिको संजयवेलट्ठिपुत्तके मतसे बतानेका प्रयत्न किया है। राहुलजीने दर्शनदिग्दर्शन (पृ० ४९६) में लिखा है कि—"आधुनिक जैनदर्शनका आधार स्याद्वाद है। जो मालूम होता है संजयवेलट्ठिपुत्तके चार अंग वाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है।" संजयने तत्त्वों (परलोक देवता) के बारेमें कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इनकार करते हुए उस इनकारको चार प्रकारका कहा है—

१—है ? नहीं कह सकता।
२—नहीं है ? नहीं कह सकता।
३—है भी और नहीं भी ? नहीं कह सकता।
४—न है और न नहीं है ? नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिये जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

१—है ? हो सकता है (स्यादस्ति)
२—नहीं है ? नहीं भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)
३—है भी और नहीं भी ? है भी और नहीं भी हो सकता।
(स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं (—वक्तव्य है) ? इसका उत्तर जैन नहींमें देते हैं।

४—स्याद् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता है (—वक्तव्य है) ?
नहीं, स्याद् अ-वक्तव्य है।
५—'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।
६—'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७–'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ?

नहीं, 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है।

दोनोंको मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहिलेवाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छह भंगियाँ बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को जोड़कर 'सद्' भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयारकर अपनी सप्तभंगी पूरी की।.....इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (–स्याद्) की स्थापना न करना जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया और उसके चतुर्भंगी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।"

राहुलजीने उक्त सन्दर्भमें सप्तभंगी और स्याद्वादको न समझकर केवल शब्दसाम्यसे एक नये मतकी सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है जैसे कि चोरसे 'क्या तुम अमुक जगह गये थे ?' यह पूछने पर वह कहे कि "मैं नहीं कह सकता कि गया था" और जज अन्य प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दे कि चोर अमुक जगह गया था। तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जजका फैसला चोरके बयानसे निकला है।

संजयवेलट्ठिपुत्तके दर्शनका विवेचन स्वयं राहुलजीने (पृ० ४९१) इन शब्दोंमें किया है—"यदि आप पूछें—'क्या परलोक है ?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बताऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।"

संजयके परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तिके सम्बन्धके ये विचार शतप्रतिशत अनिश्चयवादके हैं। वह स्पष्ट कहता है कि—"यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।" संजयको परलोक-मुक्ति आदिके स्वरूपका कुछ भी निश्चय नहीं था। इसलिए उसका दर्शन बकौल राहुलजीके मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चयकर भ्रान्त धारणाओंकी पुष्टि ही करना चाहता है। तात्पर्य यह कि संजय घोर अनिश्चयवादी था।

बुद्ध और संजय—बुद्धने "लोक नित्य है, अनित्य है, नित्य-अनित्य है, न नित्य न अनित्य है, लोक अन्तवान् है, नहीं है, है–नहीं है, न है न नहीं है, निर्वाणके बाद तथागत होते हैं, नहीं होते, होते–नहीं होते, न होते न नहीं होते, जीव शरीरसे भिन्न है, जीव शरीरसे भिन्न नहीं है।" (माध्यमिक वृत्ति, पृ० ४४६।) इन चौदह वस्तुओंको अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकायमें (२।३३) इनकी संख्या दश है। इसमें आदिके दो प्रश्नोंमें तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिनाया गया है। इनके अव्याकृत होनेका कारण बुद्धने बताया है कि इनके बारेमें कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद निरोध शांति परमज्ञान या निर्वाणके लिए आवश्यक है। तात्पर्य यह कि बुद्धकी दृष्टिमें इनका जानना मुमुक्षुके लिए आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दोंमें बुद्ध भी संजयकी तरह इनके बारेमें कुछ कहकर मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्त धारणाओंको पुष्ट ही करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता या अनिश्चयको साफ-साफ शब्दोंमें कह देता है कि यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, तब बुद्ध अपने जानने, न जाननेका उल्लेख न करके उस रहस्यको शिष्योंके लिए अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। किसी भी तार्किकका यह प्रश्न अभीतक असमाहित ही रह जाता है कि इस अव्याकृतता और संजयके अनिश्चयवादमें क्या अन्तर है ? सिवाय इसके कि संजय फक्कड़की तरह खरी-खरी बात कह देता है और बुद्ध बड़े आदमियोंकी शालीनताका निर्वाह करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समयके वातावरणमें आत्मा, लोक-परलोक और मुक्तिके स्वरूपके संबंध में–है (सत्), नहीं (असत्), है–नहीं (सत्असत् उभय), न है, न नहीं है (अव्यक्त या अनुभय) ये चार कोटियाँ गूंज रही थीं। कोई भी प्राश्निक किसी भी तीर्थंकर या आचार्यसे बिना किसी संकोचके अपने प्रश्नको एक साँसमें ही उक्त चार कोटियोंमें विभाजित करके ही पूछता था। जिस प्रकार आज कोई भी प्रश्न मजदूर और पूँजीपति, शोषक और शोष्यके द्वन्द्वकी छायामें ही सामने आता है, उसी प्रकार उस समय आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंके प्रश्न सत्, असत्, उभय और अनुभय-अनिर्वचनीय इस चतुष्कोटिमें आवेष्टित रहते थे। उपनिषद् और ऋग्वेदमें इस चतुष्कोटिके दर्शन होते हैं। विश्वके स्वरूपके सम्बन्धमें सत्से असत् हुआ ? या सत्से सत् हुआ ? विश्व सत् रूप है ? या असत् रूप है, या सदसत् उभयरूप है या सदसत् दोनों रूपसे अनिर्वचनीय है ? इत्यादि प्रश्न उपनिषद् और वेदमें बराबर उपलब्ध होते हैं ? ऐसी दशामें राहुलजीका स्याद्वादके विषयमें यह फतवा दे देना कि संजयके प्रश्नोंके शब्दोंसे या उसकी चतुर्भंगीको तोड़-मरोड़कर सप्तभंगी बनी–कहाँतक उचित है, यह वे स्वयं विचारें।

बुद्धके समकालीन जो छह तीर्थिक थे उनमें निग्गण्ठनाथपुत्त महावीरकी अपने क्षेत्रमें सर्वज्ञ और सर्वदर्शीके रूपमें प्रसिद्धि थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नहीं, यह इस समयकी चरचाका विषय नहीं है, पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक थे और किसी भी प्रश्नको संजयकी तरह अनिश्चयकोटि या विक्षेपकोटिमें और बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमें डालनेवाले नहीं थे और न शिष्योंकी सहज जिज्ञासाको अनुपयोगिताके भयप्रद चक्करमें डुबा देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि संघके पँचमेल व्यक्ति जबतक वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय नहीं कर लेते तबतक उनमें बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघके भिक्षुओंके सामने अपनी बौद्धिक दीनताके कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उनके जीवन और आचारपर आये बिना नहीं रहेगा। वे अपने शिष्योंको पर्देबन्द पद्मिनियोंकी तरह जगत्के स्वरूपविचारकी बाह्य हवासे अपरिचित नहीं रखना चाहते थे, किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक मानव अपनी सहज जिज्ञासा और मननशक्तिको वस्तुके यथार्थ स्वरूपके विचारकी ओर लगावे। न उन्हें बुद्धकी तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्माके सम्बन्धमें 'है' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियोंकी तरह लोग नित्यत्वकी ओर झुक जायेंगे और 'नहीं है' कहनेसे उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाककी तरह नास्तिकत्वका प्रसंग प्राप्त होगा, अतः इस प्रश्नको अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। वे चाहते थे कि मौजूद तर्कोंका और संशयोंका समाधान वस्तुस्थितिके आधारसे होना ही चाहिये। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूपका अनुभवकर यह बताया कि जगत्का प्रत्येक सत्, चाहे वह चेतनजातीय हो या अचेतनजातीय, परिवर्तनशील है। वह निसर्गतः प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। उसकी पर्याय बदलती रहती है। उसका परिणमन कभी सदृश भी होता है, कभी विसदृश भी। पर परिणमनसामान्यके प्रभावसे कोई भी अछूता नहीं रहता। यह एक मौलिक नियम है कि किसी भी सत्का सर्वथा उच्छेद नहीं हो सकता, वह परिवर्तित होकर भी अपनी मौलिकता या सत्ताको नहीं खो सकता। एक परमाणु है वह हाइड्रोजन बन जाय, जल बन जाय, भाप बन जाय, फिर पानी हो जाय, पृथिवी बन जाय और अनन्त आकृतियों या पर्यायोंको धारण कर ले, पर अपने द्रव्यत्व और मौलिकत्वको नहीं खो सकता। किसीकी ताकत नहीं जो उस परमाणुकी हस्तीको मिटा सके। तात्पर्य यह कि जगत्में जितने 'सत्' हैं उतने बने रहेंगे, उनमेंसे एक भी कम नहीं हो सकता, एक दूसरेमें विलीन नहीं हो सकता। इसी तरह न कोई नया 'सत्' उत्पन्न हो सकता है। जितने हैं उनका ही आपसी संयोगोंके आधारसे यह विश्व जगत् (गच्छतीति जगत् अर्थात् नाना रूपोंको प्राप्त होनेवाला) बनता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यह कि–विश्व में जितने सत् हैं उनमें से न तो एक कम हो सकता है और न एक बढ़ सकता है। अनन्त जड़ परमाणु, अनन्त आत्माएँ, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु इतने सत् हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल अपने स्वाभाविक रूपमें सदा विद्यमान रहते हैं उनका विलक्षण परिणमन नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि ये कूटस्थ नित्य हैं किन्तु इनका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है, वह सदृश स्वाभाविक परिणमन ही होता है। आत्मा और पुद्गल ये दो द्रव्य एक दूसरेको प्रभावित करते हैं। जिस समय आत्मा शुद्ध हो जाता है उस समय वह भी अपने प्रतिक्षणभावी स्वाभाविक परिणमनका ही स्वामी रहता है, उसमें विलक्षण परिणति नहीं होती। जबतक आत्मा अशुद्ध है तबतक ही इसके परिणमनपर सजातीय जीवान्तरका और विजातीय पुद्गलका प्रभाव आनेसे विलक्षणता आती है। इसकी नानारूपता प्रत्येकको स्वानुभवसिद्ध है। जड़ पुद्गल ही एक ऐसा विलक्षण द्रव्य है जो सदा सजातीयसे भी प्रभावित होता है और विजातीय चेतनसे भी। इसी पुद्गल द्रव्यके चमत्कार आज विज्ञानके द्वारा हम सबके सामने प्रस्तुत हैं। इसीके हीनाधिक संयोग-वियोगोंके फलस्वरूप असंख्य आविष्कार हो रहे हैं। विद्युत् शब्द आदि इसीके रूपान्तर हैं, इसीकी शक्तियाँ हैं। जीवकी अशुद्ध दशा इसीके संपर्कसे होती है। अनादिसे जीव और पुद्गलका ऐसा संयोग है जो पर्यायान्तर लेनेपर भी जीव इसके संयोगसे मुक्त नहीं हो पाता और उसमें विभावपरिणमन–राग, द्वेष, मोह अज्ञानरूप दशाएँ होती रहती हैं। जब यह जीव अपनी चारित्रसाधना द्वारा इतना समर्थ और स्वरूपप्रतिष्ठ हो जाता है कि उसपर बाह्य जगत्का कोई भी प्रभाव न पड़ सके तो वह मुक्त हो जाता है और अपने अनन्त चैतन्यमें स्थिर हो जाता है। मुक्त जीव अपने प्रतिक्षण परिवर्तित स्वाभाविक चैतन्यमें लीन रहता है। फिर उसमें अशुद्ध दशा नहीं होती। अन्ततः पुद्गल परमाणु ही ऐसे हैं जिनमें शुद्ध या अशुद्ध किसी भी दशामें दूसरे संयोगके आधारसे नाना आकृतियाँ और अनेक परिणमन संभव हैं तथा होते रहते हैं। इस जगत् व्यवस्थामें किसी एक ईश्वर जैसे नियन्ताका कोई स्थान नहीं है। यह तो अपने-अपने संयोग-वियोगोंसे परिणमनशील है। प्रत्येक पदार्थका अपना सहज स्वभावजन्य प्रतिक्षणभावी परिणमनचक्र चालू है। यदि कोई दूसरा संयोग आ पड़ा और उस द्रव्यने इसके प्रभावको आत्मसात् किया तो परिणमन तत्प्रभावित हो जायगा, अन्यथा वह अपनी गतिसे बदलता चला जायगा। हाइड्रोजनका एक अणु अपनी गतिसे प्रतिक्षण हाइड्रोजन रूपमें बदल रहा है। यदि ऑक्सीजनका अणु उसमें आ जुटा तो दोनोंका जलरूप परिणमन हो जायगा। वे दोनों एक जलबिन्दु रूपसे सदृश संयुक्त परिणमन कर लेंगे। यदि किसी वैज्ञानिकके विश्लेषणप्रयोगका निमित्त मिला तो वे दोनों फिर जुदा-जुदा भी हो सकते हैं। यदि अग्निका संयोग मिल गया तो भाप बन जायँगे। यदि साँपके मुखका संयोग मिला तो विषबिन्दु हो जायँगे। तात्पर्य यह कि यह विश्व साधारणतया पुद्गल और अशुद्ध जीवके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका वास्तविक उद्यान है। परिणमन चक्रपर प्रत्येक द्रव्य चढ़ा हुआ है। वह अपनी अनन्त योग्यताओंके अनुसार अनन्त परिणमनोंको क्रमशः धारण करता है। समस्त 'सत्' के समुदायका नाम लोक या विश्व है। इस दृष्टिसे अब आप लोकके शाश्वत और अशाश्वत वाले प्रश्नको विचारिए—

१–क्या लोक शाश्वत है? हाँ, लोक शाश्वत है। द्रव्योंकी संख्याकी दृष्टिसे, अर्थात् जितने सत् इसमें हैं उनमेंका एक भी सत् कम नहीं हो सकता और न उसमें किसी नये सत्की वृद्धि ही हो सकती है। न एक सत् दूसरेमें विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जो इसके अंगभूत द्रव्योंका लोप हो या वे समाप्त हो जायँ।

२–क्या लोक अशाश्वत है? हाँ, लोक अशाश्वत है, अंगभूत द्रव्योंके प्रतिक्षण भावी परिणमनोंकी दृष्टिसे? अर्थात् जितने सत् हैं वे प्रतिक्षण सदृश या विसदृश परिणमन करते रहते हैं। इसमें दो क्षणतक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठहरनेवाला कोई परिणमन नहीं है। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षण-भावी सदृश परिणमनका स्थूल दृष्टिसे अवलोकनमात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोग-वियोगोंकी दृष्टिसे विचार कीजिये तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

३-क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप है? हाँ, क्रमशः उपर्युक्त दोनों दृष्टियोंसे विचार कीजिए तो लोक शाश्वत भी है (द्रव्यदृष्टिसे), अशाश्वत भी है (पर्यायदृष्टिसे)। दोनों दृष्टिकोणोंको क्रमशः प्रयुक्त करनेपर और उन दोनोंपर स्थूलदृष्टिसे विचार करनेपर जगत् उभयरूप ही प्रतिभासित होता है।

४-क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप नहीं है? आखिर उसका पूर्णरूप क्या है? हाँ, लोकका पूर्णरूप अवक्तव्य है, नहीं कहा जा सकता। कोई शब्द ऐसा नहीं जो एक साथ शाश्वत और अशाश्वत इन दोनों स्वरूपोंको तथा उसमें विद्यमान अन्य अनन्त धर्मोंको युगपत् कह सके। अतः शब्दकी असामर्थ्यके कारण जगत्का पूर्णरूप अवक्तव्य है, अनुभव है, वचनातीत है।

इस निरूपणमें आप देखेंगे कि वस्तुका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है, अनिर्वचनीय या अवक्तव्य है। यह चौथा उत्तर वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कहनेकी दृष्टिसे है। पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्य-दृष्टिसे, अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टिसे। इस तरह मूलरूपसे चौथा, पहिला और दूसरा ये तीन प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपताका प्रश्न तो प्रथम और द्वितीयके संयोगरूप है। अब आप विचारें कि संजयने जब लोगके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमें स्पष्ट कह दिया कि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ और बुद्धने कह दिया कि इनके चक्करमें न पड़ो, इसका जानना उपयोगी नहीं है, तब महावीरने उन प्रश्नोंका वस्तुस्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्योंकी जिज्ञासाका समाधानकर उनको बौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोंका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रश्न	संजय	बुद्ध	महावीर
१—क्या लोक शाश्वत है?	मैं जानता होऊँ तो बताऊँ (अनिश्चय, विक्षेप)	इसका जानना अनुपयोगी है (अव्याकृत अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत है, इसके किसी भी सत्का सर्वथा नाश नहीं हो सकता।
२—क्या लोक अशाश्वत है?	,,	,,	हाँ, लोक अपने प्रतिक्षण भावी परिवर्तनोंकी दृष्टिसे अशाश्वत है, कोई भी परिवर्तन दो क्षणस्थायी नहीं है।
३—क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है?	,,	,,	हाँ, दोनों दृष्टिकोणोंसे क्रमशः विचार करनेपर लोकको शाश्वत भी कहते हैं और अशाश्वत भी।
४—क्या लोक दोनों रूप नहीं है अनुभय है?	,,	,,	हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोकके परिपूर्ण स्वरूपको एक साथ समग्र भावसे कह सके। अतः पूर्णरूपसे वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है, अनिर्वचनीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नोंका समाधान नहीं करते उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर अपना पिंड छुड़ा लेते हैं, महावीर उन्हींका वास्तविक युक्तिसंगत समाधान करते हैं। इसपर भी राहुलजी और स्व० धर्मानन्द कोसम्बी आदि यह कहनेका साहस करते हैं कि 'संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर संजयवाद-को ही जैनियोंने अपना लिया।' यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि 'भारतमें रही परतन्त्रताको ही पर-तन्त्रता विधायक अंग्रेजोंके चले जानेपर भारतीयोंने इसे अपरतन्त्रता (स्वतन्त्रता) रूपसे अपना लिया है, क्योंकि अपरतन्त्रतामें भी 'प र त न्त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही। या हिंसाको ही बुद्ध और महावीरने उनके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर अहिंसा रूपसे अपना लिया है क्योंकि अहिंसामें भी 'हिं सा' ये दो अक्षर हैं ही।'' यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि आप (पृ० ४८४) अनिश्चिततावादियों-की सूचीमें संजयके साथ निग्गंठनाथपुत्त (महावीर) का नाम लिख जाते हैं, तथा (पृ० ४९१) संजयको अनेकान्तवादी भी। क्या इसे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें 'धिग् व्यापकं तमः' नहीं कहा जा सकता ?

'स्यात्' शब्दके प्रयोगसे साधारणतया लोगोंको संशय, अनिश्चय या संभावनाका भ्रम होता है। पर यह तो भाषाकी पुरानी शैली है उस प्रसंगकी, जहाँ एक वादका स्थापन नहीं होता। एकाधिक भेद या विकल्पकी सूचना जहाँ करनी होती है वहाँ 'स्यात्' पदका प्रयोग भाषाकी शैलीका एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकायके महाराहुलोवादसुत्तके निम्नलिखित अवतरणसे ज्ञात होता है–'कतमा राहुल च तेजोधातु ? तेजोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा।' अर्थात् तेजोधातु स्यात् आध्यात्मिक है स्यात् बाह्य है। यहाँ सिया (स्यात्) शब्दका प्रयोग तेजोधातुके निश्चित भेदोंकी सूचना देता है न कि उन भेदोंका संशय, अनि-श्चय या संभावना बताता है। आध्यात्मिक भेदके साथ प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द इस बातका द्योतन करता है कि तेजोधातु-मात्र आध्यात्मिक ही नहीं है किन्तु उससे व्यतिरिक्त बाह्य भी है। इसी तरह 'स्यादस्ति' में अस्तिके साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द सूचित करता है कि अस्तिसे भिन्न धर्म भी वस्तुमें है केवल अस्तिधर्मरूप ही वस्तु नहीं है। इस तरह 'स्यात्' शब्द न शायदका, न अनिश्चयका और न सम्भावनाका सूचक है किन्तु निर्दिष्ट धर्मके सिवाय अन्य अशेष धर्मोंकी सूचना देता है जिससे श्रोता वस्तुको निर्दिष्ट धर्ममात्र रूप ही न समझ बैठे।

सप्तभंगी—वस्तु मूलतः अनन्तधर्मात्मक है। उसमें विभिन्न दृष्टियोंसे विभिन्न विवक्षाओंसे अनन्त धर्म हैं। प्रत्येक धर्मका विरोधी धर्म भी दृष्टिभेदसे वस्तुमें सम्भव है। जैसे 'घटः स्यादस्ति' में घट है अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादासे। जिस प्रकार घटमें स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व धर्म है उसी तरह घट-व्यतिरिक्त अन्य पदार्थोंका नास्तित्व भी घटमें है। यदि घटभिन्न पदार्थोंका नास्तित्व घटमें न पाया जाय तो घट और अन्य पदार्थ मिलकर एक हो जायँगे। अतः घट स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। इसी तरह वस्तुमें द्रव्यदृष्टिसे नित्यत्व और पर्यायदृष्टिसे अनित्यत्व आदि अनेकों विरोधी युगल धर्म रहते हैं। एक वस्तुमें अनन्त सप्तभंग बनते हैं। जब हम घटके अस्तित्वका विचार करते हैं तो अस्तित्वविषयक सात भंग हो सकते हैं। जैसे संजयके प्रश्नोत्तर या बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोत्तरमें हम चार कोटि तो निश्चित रूपसे देखते हैं—सत्, असत्, उभय और अनुभय। उसी तरह गणितके हिसाबसे तीन मूल भंगोंको मिलानेपर अधिकसे अधिक सात अपुनरुक्त भंग हो सकते हैं। जैसे घड़ेके अस्तित्वका विचार प्रस्तुत है तो पहिला अस्तित्व धर्म, दूसरा तद्विरोधी नास्तित्व धर्म और तीसरा धर्म होगा अवक्तव्य जो वस्तुके पूर्ण रूपकी सूचना देता है कि वस्तु पूर्णरूपसे वचनके अगोचर है, उसके विराट् रूपको शब्द नहीं छू सकते। अवक्तव्य धर्म इस अपेक्षासे है कि दोनों धर्मोंको युगपत् कहनेवाला शब्द संसारमें नहीं है। अतः वस्तु यथार्थतः वचनातीत है, अवक्तव्य है। इस तरह मूलमें तीन भंग हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१–स्यादस्ति घटः २–स्यान्नास्ति घटः ३–स्यादवक्तव्यो घटः

अवक्तव्यके साथ स्यात् पद लगानेका भी अर्थ है कि वस्तु युगपत् पूर्ण रूपमें यदि अवक्तव्य है तो क्रमशः अपने अपूर्ण रूपमें वक्तव्य भी है और वह अस्ति, नास्ति आदि रूप वचनोंका विषय भी होती है। अतः वस्तु स्याद् अवक्तव्य है। जब मूल भंग तीन हैं तब उनके द्विसंयोगी भंग भी तीन होंगे तथा त्रिसंयोगी भंग एक होगा। जिस तरह चतुष्कोटिमें सत् और असत्को मिलाकर प्रश्न होता है कि 'क्या सत् होकर भी वस्तु असत् है ?" उसी तरह ये भी प्रश्न हो सकते हैं कि–१–क्या सत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? २–क्या असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? ३–क्या सत्असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? इन तीनों प्रश्नोंका समाधान संयोगज चार भागोंमें है। अर्थात्—

४–अस्ति नास्ति उभय रूप वस्तु है स्वचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-कालभाव और परचतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

५–अस्ति अवक्तव्य वस्तु है–प्रथम समयमें स्वचतुष्टय और द्वितीय समयमें युगपत् स्वपरचतुष्टय पर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

६–नास्ति अवक्तव्य वस्तु है–प्रथम समयमें परचतुष्टय और द्वितीय समयमें युगपत् स्वपर चतुष्टयकी क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

७–अस्ति नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमें स्वचतुष्टय, द्वितीय समय में परचतुष्टय तथा तृतीय समयमें युगपत् स्व-परचतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और तीनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

जब अस्ति और नास्तिकी तरह अवक्तव्य भी वस्तुका धर्म है तब जैसे अस्ति और नास्तिको मिलाकर चौथा भंग बन जाता है वैसे ही अवक्तव्यके साथ भी अस्ति, नास्ति और अस्तिनास्तिको मिलाकर पाँचवें, छठवें और सातवें भंगकी सृष्टि हो जाती है।

इस तरह गणितके सिद्धान्तके अनुसार तीन मूल वस्तुओंके अधिकसे अधिक अपुनरुक्त सात ही भंग हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुके प्रत्येक धर्मको लेकर सात प्रकारकी जिज्ञासा हो सकती है, सात प्रकारके प्रश्न हो सकते हैं अतः उनके उत्तर भी सात प्रकारके ही होते हैं।

दर्शनदिग्दर्शनमें श्री राहुलजी ने पाँचवें, छठवें और सातवें भंगको जिस भ्रष्ट तरीकेसे तोड़ा-मरोड़ा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और अतिसाहस है। जब वे दर्शनोंको व्यापक नई और वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना चाहते हैं तो उन्हें किसी भी दर्शन को समीक्षा उसके स्वरूपको ठीक समझकर ही करनी चाहिए। वे अवक्तव्य नामक धर्मको, जो कि सत्के साथ स्वतन्त्रभावसे द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर अ-वक्तव्य करके संजयके 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और 'संजय'[1] के घोर अनिश्चयवादको ही अनेकान्तवाद कह देते हैं। किमाश्चर्यमतः परम्।

१. जैन कथाग्रन्थोंमें महावीरके बालजीवनकी एक घटनाका वर्णन आता है कि–'संजय और विजय नामक दो साधुओंका संशय महावीरको देखते ही नष्ट हो गया था, इसलिए इनका नाम सन्मति रखा गया था। सम्भव है यह संजय-विजय संजयवेलट्ठिपुत्त ही हों और इसीके संशय या अनिश्चयका नाश महावीरके सप्तभंगी न्यायसे हुआ हो। यहाँ वेलट्ठिपुत्त विशेषण भ्रष्ट होकर विजय नामका दूसरा साधु बन गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org